व्यावहारिक जैन प्रतिमानों की आधुनिक प्रासंगिकता

डॉ० ल० के० ओड

मेरा जन्म तथा आरम्भिक लालन-पालन मन्दसौर (म० प्र०) में हुआ। कहते हैं कि यह एक प्राचीन नगर है जिसका ऐतिहासिक नाम दशपुर है। जैन मुनियों के प्रवचनों में सुना था कि अपनी तीर्थंकरावस्था में भगवान् महावीर का आगमन इस नगर में हुआ था तथा दशार्ण प्रदेश के तत्कालीन नरेश ने भगवान् महावीर के समीप दीक्षा अंगीकार की थी। आज भी इस नगर में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या काफी है।

उन दिनों (और मालूम नहीं कदाचित् आज भी) मन्दसौर नगर साम्प्रदायिक विद्वेष तथा कलह के लिए कुख्यात था। जैन-धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदायों में व्याप्त क्लेश भी कभी-कभी हिंसात्मक रूप धारण कर लेता था। जब मैं किशोरावस्था तक पहुंचा तब तक मेरा मन एक विचित्र प्रकार की अनास्था से भर गया था। जैन मुनियों से सुना था कि जहां-जहां भगवान के चरणारविन्द पड़े वह अतिशय क्षेत्र कहलाता है तथा वहां के वातावरण में पवित्रता व्याप्त रहती है; परन्तु मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देता था कि आधुनिक मगध, वैशाली, मालव आदि सभी क्षेत्र तो हिंसा, अनाचार, शोषण तथा कलह के केन्द्र बने हुए थे। क्या भगवान महावीर का प्रभाव इन स्थानों से समाप्त हो गया था?

कभी-कभी मनस्तरंग मुझे इतिहास के उस युग में ले जाकर खड़ा कर देती थी, जब स्वयं भगवान महावीर कभी राजगृही नगरी के नालन्दी पाड़ा में, तो कभी श्रावस्ती नगर के गुणसिल्ल उद्यान में, तो कभी वैशाली नगर में और कभी उज्जैनी के चैत्यालय में धर्मोपदेश देते दिखाई देते तथा अनेक राजा-रानियां, श्रेष्ठिगण भगवान का उपदेश सुनकर दीक्षा लेते, श्रावकाचार ग्रहण करते तथा भव्यजीव आत्मकल्याण का मार्ग अपनाते। इसके साथ ही मुझे उस युग के युद्ध तथा पारस्परिक कलह भी याद आते। भगवान महावीर के अनुयायी महाराजा चेटक तथा उन्हीं के जामाता मगध के श्रेणिक नरेश के बीच युद्ध; श्रेणिक और कोणिक दोनों पिता-पुत्र और दोनों महावीर के अनुयायी होते हुए भी एक-दूसरे के जन्मजात शत्रु; तत्कालीन वैशाली और मगध के छोटे से भूखण्ड के अनेक जैन धर्मावलम्बी राजाओं में एक-दूसरे के राज्य को हड़प लेने की वृत्ति। इन सब दुर्वृत्तियों को भगवान महावीर रोक नहीं पाए। उस युग में भी व्यक्ति का निजी आचार तथा सामाजिक आचार अलग-अलग बने रहे। राजा चेटक अपने युद्ध-प्रतिद्वन्द्वी उदयन को एक ओर बन्दी बनाकर कारागृह में डाल सकते हैं, परन्तु सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के उपरान्त अपने बन्दी से क्षमायाचना करते हैं क्योंकि राजा के रूप में युद्धधर्म का आचार भिन्न है, जिस पर निजी जीवन के आदर्शों की छाप पड़ना आवश्यक नहीं है। आचार-सम्बन्धी यह दुविधा भगवान महावीर के समय से लेकर आज तक जैन धर्मावलम्बियों में देखी जा सकती है।

उक्त द्विधापूर्ण परिस्थितियों में मेरा मन बारम्बार विद्रोह करता और मैं अपने अत्यन्त धर्मभीरु माता-पिता से प्रश्न करता कि क्या भगवान महावीर के सिद्धान्त शास्त्रों में पढ़ने तक सीमित हैं और क्या इस व्यावहारिक जगत में कभी भी उनका प्रयोग हुआ अथवा उनके व्यवहार में आने की कभी सम्भावना हो भी सकती है? मुझे उनके दैनिक जीवन में पानी का सीमित व्यवहार, वनस्पति का सीमित उपयोग, मुंह पर वस्त्र बांधकर सामायिक के आसन पर बैठना, जानबूझकर किसी भी त्रस जीव को कष्ट न पहुंचाने की वृत्ति, अग्नि-आरम्भ पर नियन्त्रण, वैरभाव से युक्त विषाक्त प्राणियों की भी रक्षा करने की वृत्ति, समय-समय पर व्रत-उपवास, वाणी में संयम आदि अनेक आचरणों का औचित्य समझ में नहीं आता। मेरे जिज्ञासु किशोर मन को उनके श्रद्धायुक्त आशावादी उत्तर सन्तुष्ट नहीं कर पाते; परन्तु एक दिन उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि वह समय शीघ्र आने वाला है जब मानव समाज एकान्तिक मतवाद का त्याग करके भगवान महावीर के अनेकान्तिक सिद्धान्त को स्वीकार करेगा तथा इस सृष्टि की नैसर्गिक एवं मानवीय परिस्थितियां "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के सिद्धान्त को अंगीकार करने के लिए मनुष्य को बाध्य कर देंगी।

भविष्यवाणियों में मेरा विश्वास कभी नहीं रहा, परन्तु भविष्य शास्त्र (Futurology) में अवश्य रुचि रही है और इसीलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावित प्रागुक्तियों (Probable Forecast)का मैं रुचिपूर्वक विश्लेषण तथा अवलोकन करता रहता हूं। मेरे पिताजी की प्रागुक्ति तो श्रद्धा समन्वित थी, परन्तु उसके बाद हरमन कान्ह, एल्विन टॉफ्लर आदि अनेक भविष्य शास्त्री लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित हुईं और उनमें प्रतिदिन समाप्त होने वाले प्राकृतिक स्रोतों की तरफ मनुष्य का ध्यान आकृष्ट किया गया, तो मुझे मेरे पिताजी की प्रागुक्तियां पुनः स्मरण आने लगीं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरांश में जो वैज्ञानिक अन्वेषण हुए हैं तथा जिस प्रकार के राजनैतिक तथा आर्थिक परिवर्तन हुए हैं, उनसे धीरे-धीरे अब ऐसा आभास होने लगा है कि यदि हमारी इस पृथ्वी को मानव के रहने लायक बनाए रखना है, तो भगवान महावीर के सिद्धान्तों को हमारे दैनिक जीवन व्यवहार में अपनाना होगा, अथवा मानव सृष्टि का विनाश अवश्यम्भावी है।

दैनिक जीवन में सूक्ष्म एवं 'बादर' हिंसा का त्याग

जैन दर्शन में जीवों की व्याख्या अत्यन्त विशद तथा सूक्ष्म रूप से की गई है। जैनागम में जीव का लक्षण 'उपयोग' माना गया है अर्थात् जिसमें ज्ञानादि का एकांश या विशेषांश है—वह जीव है। जीव द्रव्य चेतना गुण का धारक होता है, इन्द्रियगम्य नहीं होता तथा संकोच-विस्तार की शक्ति से युक्त तथा असंख्यातप्रदेशी एक द्रव्य होता है (उत्तराध्ययन, अध्याय २८)। जीव जिस माध्यम से प्रव्यक्त होता है, उसे काया कहते हैं, जो उत्पन्न होती है, वृद्धि पाती है तथा जिसका क्षय होता है। एककोशीय जीव से लेकर अनेक पर्यायों वाले जीवों का सविस्तार विवेचन जैन तत्त्वज्ञान का मूलाधार रहा है। जैन दर्शन में केवल एकेन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवों का स्थूल वर्गीकरण ही नहीं मिलता अपितु एकेन्द्रिय जीवों का भी पांच प्रमुख "काया" रूपों में श्रेणीकरण किया गया है। वैज्ञानिक गवेषणाओं ने अभी तक वनस्पति काया के जीवों का अस्तित्व स्वीकार किया है, और साथ ही अन्य "काया" में यथा—पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय एवं तेजस काय में परिव्याप्त बेक्टेरियल जीवाणुओं की उपस्थिति को भी स्वीकार किया है परन्तु इन्हें स्वयं जीव के रूप में नहीं माना गया, क्योंकि विज्ञान द्वारा मान्य "जीव" की परिभाषा में इनका समावेश नहीं हो पाता। कालान्तर में इस बात की पूरी सम्भावना नजर आती है कि जीव की मान्य परिभाषा को अधिक व्यापक बनाया जाएगा तथा सभी प्रकार के सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रस-स्थावर जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करके उन सबके प्रति संवेदनशीलता बढ़ती जाएगी।

स्थूल श्रेणीकरण के अतिरिक्त जैन तात्त्विकों ने विकास-क्रम की दृष्टि से जीवों का पुनर्वर्गीकरण किया है। सभी पंचेन्द्रिय जीव भी एक कोटि में नहीं आते। उनमें भी अनेक प्रकार के अल्पविकसित मस्तिष्क वाले असंज्ञी जीव हैं और विकसित मस्तिष्क एवं बुद्धि वाले संज्ञी जीव जिनमें मनुष्य ही नहीं अपितु देवता भी हैं, इसी कोटि के विकास क्रम में आते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार दैनिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की गई है कि वह यथासंभव सभी जीवों की रक्षा करे; दूसरे शब्दों में सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करे। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह अपने जीवन व्यवहार को इस प्रकार संयत रक्खे जिससे कि जो जीव-वध केवल असावधानी से होता है उसे तो बचाया ही जा सके।

उक्त परिप्रेक्ष्य में ही जैन धर्मावलम्बी अनावश्यक पानी का अपव्यय नहीं करते, तथा उतना ही जल का प्रयोग करते हैं जितना जीवन जीने के लिए आवश्यक है। यही बात भूमि-संरक्षण, ऊर्जा-संरक्षण, वायु-संरक्षण, वनस्पति-संरक्षण तथा समग्र त्रस (जंगम) जीवों के संरक्षण के बारे में कही जा सकती है। इन सब कार्यों में जीव विद्यमान है अतः इनका उपयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

जैन दर्शन के उक्त जीवन व्यवहार का महत्व आज की परिस्थिति में अत्यधिक बढ़ गया है। हरमन कान्ट तथा अन्य भविष्य शास्त्रियों ने प्रागुक्ति की है कि हमारी पृथ्वी के प्राकृतिक साधनों का अविचारी दुरुपयोग हम जिस निर्दयता के साथ कर रहे हैं, उसको रोका नहीं गया, तो हमारी मानव सृष्टि एक शताब्दी से अधिक जीवित नहीं रह सकेगी। इन प्रागुक्तियों के बाद अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तरों पर "पर्यावरण संरक्षण" पर ध्यान दिया जाने लगा।

सहस्रों वर्षों से मनुष्य पृथ्वी के गर्भ से अमूल्य खनिजों को प्राप्त करता रहा है, तथा भूमि के ऊपर कृषि करके धन-धान्य उत्पन्न करता रहा है। प्रकृति का चक्र कुछ इस प्रकार संचालित होता रहता है कि यदि मनुष्य उसमें अतिरेक न करे तो सभी प्राणी एक-दूसरे के सहयोग से सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। भगवान महावीर ने डार्विन के "जीवो जीवस्य भोजनम्" के नकारात्मक सिद्धान्त के स्थान पर सकारात्मक कथन किया-"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"।

औद्योगीकरण के आगमन के साथ हमने प्रकृति का शोषण अत्यन्त निर्दयता के साथ किया है तथा प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ दिया है। जैन दर्शन में पन्द्रह कर्मादानों निषेध किया गया है। इन पन्द्रह कर्मादानों में इस प्रकार के "महारंभ" सम्मिलित किए जाते हैं, जैसे वनों का समूलनाश करवाना, भूमि के गर्भ को शून्य बना देना, भूमि की उपज-शक्ति की रक्षा किए बिना उससे इतना उत्पादन लेना कि वह बंजर भूमि बन जाए, जल-संसाधनों को दूषित करना तथा उनके प्राकृतिक आगमन-निगमन में अवरोध उपस्थित करना, ऊर्जा शक्ति का अपव्यय करना इत्यादि। "परस्परोपग्रहः जीवानाम्" के सिद्धान्तानुसार प्रकृति एवं मनुष्य ही नहीं, बल्कि सृष्टि के सभी जीव एक-दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक-दूसरे के सहयोग से जीवन यापन करते हैं। यदि मनुष्य अपने जीवन-यापन हेतु प्रकृति से कुछ लेता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तो बदले में उसे कुछ देना भी होता है। प्रकृति का आधार शोषण नहीं अपितु सहयोग है। वृक्ष के फल, फूल और लकड़ी उतनी ही उपयोग में ली जानी चाहिए जितनी कि पुनर्वृक्षारोपण द्वारा पुनस्स्थापित की जा सके। वनों के अविचारी विनाश के फलस्वरूप हमारे वायु-मण्डल में जो असंतुलन आया है उससे हम सब भलीभांति परिचित हैं। भारत के कुछ क्षेत्रों में अतिवृष्टि है तो कुछ में अनावृष्टि अथवा न्यूनवृष्टि। इसका एक कारण वन-सम्पदा का अविचारी दुरुपयोग रहा है। वनों के कारण केवल वर्षा ही आकृष्ट नहीं होती थी अपितु जल संरक्षण भी होता था और बाढ़ें भी रुकती थीं और वायु-मण्डल मनुष्य जीवन के लिए स्वास्थ्यकारी रहता था। हमारा ध्यान पुनः एक बार इस ओर आकृष्ट हुआ है। इस विचार को शुद्ध बौद्धिक आधार पर ग्रहण करने की अपेक्षा इसे श्रद्धासमन्वित बनाने की आवश्यकता है। वन-संरक्षण एवं वृक्षारोपण—दोनों ही आज के जीवन की आवश्यकताएं हैं।

जैन आचार के अनुसार प्रत्येक महारम्भ महाहिंसा को जन्म देता है क्योंकि महारम्भ (Large Scale Enterprise) जिस गति से प्राकृतिक साधनों को नष्ट करता है उस गति से उसकी सम्पूर्ति नहीं करता। पृथ्वी के गर्भ में नये खनिजों का निर्माण भी होता है और उनको मनुष्य अपने उपयोग के लिए बाहर भी निकालता है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप पृथ्वी के गर्भ को हमने इतना खोखला बना दिया है कि खनिजों की स्वाभाविक वृद्धि की शक्ति लगभग नष्ट होती जा रही है। आज खनिज तेलों का अभाव ही हम अनुभव कर पा रहे हैं, परन्तु यदि इसी गति से लोहा, कोयला, ताम्बा आदि अन्य खनिज भी निकाले जाते रहे तो पृथ्वी वन्ध्या हो जाएगी। जैन आचार संहिता के अनुसार खनिजों को निकालने की गति मन्द करने तथा खाली की गई खदानों का पुनरुपचार करने की आवश्यकता है।

कृषि कर्म में हमने इस देश में यन्त्रीकरण का कुछ वर्ष पूर्व ही आरम्भ किया गया है। कृषि की उपज बढ़ाने के लिए हमने उन्नत बीज, रासायनिक खाद तथा यान्त्रिक उपकरणों का प्रयोग आरम्भ किया परन्तु इनमें भी महारम्भ की आशंका व्याप्त हो गई है। हमारे पशु-धन-संयुक्त कृषि कर्म में प्राकृतिक संतुलन कायम रखने की प्रक्रिया संनिहित थी। पशुओं का गोबर खाद का काम करता तथा मनुष्य के खाने लायक सामग्री के बाद जो घास, फूस, चूरी, खली आदि बचे रहते उसे पशु आहार के रूप में प्रयुक्त किया जाता। अब यान्त्रीकरण के फलस्वरूप ट्रैक्टर उस खनिज तेल का उपभोग करता है, जो शनैः शनैः नष्ट होता जा रहा है तथा उपउत्पाद्य के रूप में वायु मण्डल को दूषित करने वाला धुंआ प्रदान किया जाता है। इस प्राकृतिक असंतुलन के कारण कुछ समय के लिए अनाज तो शायद विपुल मात्रा में मिल जाए परन्तु वायुमण्डल दूषित हो रहा है, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति शनैः शनैः घट रही है, दूध-दही का अभाव हो रहा है, पशु-धन क्षीण होता जा रहा है और स्थिति अब ऐसी आ गई है कि "डीजल" की कमी का प्रभाव कृषि पर भी आने लगा है। जैन आचार के अनुसार शस्य-वृद्धि, भोजन-लिप्सा पर संयमन, पशु संवर्धन तथा पृथ्वी की उपजाऊ-शक्ति के संरक्षण का कार्य साथ-साथ चलना चाहिए।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण जल के अपव्यय तथा प्रदूषण की प्रक्रिया भी आरम्भ हुई। जिन क्षेत्रों में जलाभाव थे उन क्षेत्रों के अभाव को हम तो पूरी तरह दूर नहीं कर पाए परन्तु जहां प्रचुर मात्रा में जल उपलब्ध था उसका अपव्यय भी खूब होने लगा, तथा बड़े-बड़े कारखानों की गन्दगी ने उन जलाशयों को प्रदूषित कर दिया। परिणामस्वरूप जल के जीव, जल में व्याप्त सूक्ष्म, बादर तथा त्रस जीवों की जो अ-विचारी हिंसा हुई उसके फलस्वरूप परिवेश के जल-सम्बन्धी पर्यावरण का संतुलन बिगड़ा। आज विपुल जल वाले क्षेत्र भी जलाभाव से ग्रस्त हैं तथा वहां के निवासियों के स्वास्थ्य पर जल प्रदूषण का प्रभाव पड़ रहा है। जल के प्रयोग में सावधानी तथा मितव्ययता सम्पूर्ण जीव सृष्टि को कायम रखने के लिए आज और भी अधिक आवश्यक हो गई है।

हमारी सृष्टि में ऊर्जा के अनन्त स्रोत हैं। प्रकृति अनेक रूपों में ऊर्जा का उत्सर्जन करती रहती है। हमारा जीवन ऊर्जा पर आश्रित है, परन्तु ऊजा के स्रोतों का उपयोग करने में भी उसी प्रकार सावधानी बरतना आवश्यक है। ऊर्जा का उपयोग आवश्यक हिंसा के रूप में होना चाहिए और सृष्टि को उसकी पुनः स्थापना करने में मदद करनी चाहिए। ऊर्जा के प्राकृतिक साधनों का अपव्यय भी मानव-सृष्टि को विनाश की ओर ले जा सकता है।

कभी कहा जाता था कि अन्न, जल तथा वायु तो प्रकृति की निःशुल्क देन है, परन्तु धीरे-धीरे हमारी मानव-सृष्टि में से तीनों प्राकृतिक साधन मनुष्य की निजी सम्पत्ति बन गये। आज तो किसी के द्वारा न बांधा जा सकने वाला शून्य और उसमें व्याप्त वायु भी मनुष्य की तिजोरियों में बन्द हो गये हैं। वायुकाय के जीवों की अविचारी हिंसा ने वायु-प्रदूषण को जन्म दिया है। हमने वायु को परिशुद्ध बनाने के अपने प्रयासों में वायु के प्राणि-जीवन की साइकिल में विक्षेप डाल दिया। औद्योगिक महाहिंसा का प्रसार वायुकाय के जीवों तक भी हुआ। वायुमण्डल का प्राकृतिक संतुलन बिगड़ गया है, परन्तु यदि हम अब भी चाहें तो इस अविचारी हिंसा के प्रवाह को रोककर संतुलन पुनः कायम कर सकते हैं तथा मानव सृष्टि को तथा अन्य सभी जीवों को सुचारु जीवन जीने का अवसर दे सकते हैं।

वनस्पतिकाय के जीवों की हिंसा की बात पहले लिखी जा चुकी है। वनस्पति के जीवों की भी अनेक कोटियां हैं। कुछ वनस्पतियों का प्रयोग अनन्त जीवों का घात कर सकता है और कुछ का प्रयोग वातावरण को संतुलन बनाए रखने में सहायक हो सकता है। यह व्यक्ति की प्रकृति, मानसिक उत्थान तथा आत्मिक संवेदना पर निर्भर करेगा कि कौन व्यक्ति कितनी मात्रा में, किस-किस प्रकार की, और किन-किन रूपों में वनस्पति का सेवन तथा प्रयोग करता है। कुछ लोग जमीकंद का त्याग करते हैं तो अन्य लोग बहुबीजी वनस्पति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का त्याग कर सकते हैं, और कुछ विरले त्यागी जीव वनस्पति-सेवन का सर्वथा त्याग भी कर सकते हैं। मूल सिद्धान्त है अपव्यय का त्याग, सेवन में सतर्कता, वनस्पति जीवों के जीवन चक्र को कायम रखना तथा उपयोग के बदले में प्रकृति को क्षतिपूर्ति के रूप में प्रतिदान करना।

एकेन्द्रिय स्थावर जीवों के बाद-विकास-क्रम में त्रस जीव आते हैं जिन्हें द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय की श्रेणियों में विभक्त किया गया है और उनमें भी विकासक्रम की अनेक कोटियां परिभाषित की गई हैं। जैनाचार के अनुसार किसी भी त्रस जीव की हिंसा का पूर्ण निषेध किया गया है। जैन श्रावक तथा श्रमण से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने दैनिक जीवन व्यवहार को इस प्रकार संयत रक्खे जिससे कि छोटे से छोटे कीड़े-मकोड़े का भी वध न हो। जैन श्रावक न मच्छरों को मारता है, न खटमलों का घात करता है; न चूहों को नष्ट करता है, न छिपकलियों की हिंसा करता है; न सांप को पकड़वाता है और न नेवले से उसकी लड़ाई करवाता है। वह न आखेट के लिए वन्य पशुओं को मारता है और न आत्मरक्षा-हेतु हिंसक पशुओं का वध करता है। वह अपने भोजन के लिए वनस्पति जीवों की जितनी हिंसा अनिवार्य है उसे विवेक के साथ करता है, परन्तु अपने भोजन एवं स्वाद हेतु किसी त्रस जीव का घात नहीं करता। चारे-खेती की रक्षा हेतु अथवा आत्मरक्षा हेतु, भय हेतु अथवा प्रतिशोध हेतु वह जान बूझकर किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करता।

सभी त्रस जीव भी इस सृष्टि की साइकिल को सुचारु रूप से चलते रहने में सहायक होते हैं। निसर्ग की इस व्यवस्था में सभी जीवों का अपना स्थान है। प्रकृति के नियमानुसार अपने कर्मों के अनुरूप वे स्वयं एक-दूसरे को नष्ट कर देते हैं। मनुष्य संज्ञी जीव है अतः उसे जानबूझकर हिंसा नहीं करनी है परन्तु सृष्टि के अन्य प्राणियों में जो कर्मानुबन्ध के अनुसार हिंसा होती है वह प्रकृति की साइकिल को चलाए रखने में मदद करती है। इस प्रकृत हिंसा से मनुष्य अप्रभावित रहता है।

आज हम कुछ प्राणियों को मनुष्य का शत्रु मानते हैं। मक्खी और मच्छरों को रोगों का संवाहक माना जाता है। चूहे हमारे धान्य को नष्ट करने वाले माने जाते हैं। सांप तथा अन्य विषैले प्राणी प्राणघातक माने जाते हैं। टिड्डीदल फसलों का शत्रु कहा जाता है। हिंसक वन्य पशु हमारे घरेलू पशुओं को उठा ले जाते हैं, अतः वे भी मनुष्य के शत्रु कहे जाते हैं।

मनुष्य के शत्रु कहे जाने वाले इन जीवों का भी हमारी सृष्टि में अपना स्थान है। इस जैविक चक्र में हम जहां किसी कड़ी को तोड़ देते हैं, वहीं हिंसा का चक्र आरम्भ हो जाता है और फिर भी हम आपदाओं से पार नहीं पा सकते। नदी में रहने वाले मगरमच्छ को मारने से मछलियां तो शायद कुछ बच जाएं परन्तु अन्य अनेक नुकसानदेह प्राणी भी बच जाते हैं। रोगग्रस्त मछलियों को मार देने से जल को दूषित करने वाले कीट-कृमि शेष रह जाते हैं, और पानी सड़ान्ध मारने लगता है। सांप चूहों को खाता है और यदि सांपों को नष्ट कर दिया जाए तो चूहों की संख्या बढ़ जाएगी और यदि चूहे नष्ट हो जाएंगे तो उनके भोज्य अनेक कीड़े-मकोड़े हमारे जीवन को दूभर बना देंगे। प्रकृति की व्यवस्था में सब जीवों का अपना स्थान है तथा यदि प्रकृति को अपना काम मनुष्य के हस्तक्षेप के बिना करने दिया जाए तो सृष्टि-चक्र सुचारु रूप से चलता रह सकता है।

हमने अपने अज्ञान, अहंकार तथा लिप्सा के वशीभूत होकर कुछ वन्य पशुओं का नामोनिशान मिटा दिया। प्रकृति के साथ मनुष्य का यह सबसे क्रूर व्यवहार था। अब कुछ जीव-शास्त्रियों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट हुआ है कि सिंह, वानर, हाथी, गोडावण, मोर आदि कुछ प्राणियों के संरक्षण की आवश्यकता है। जैन मतानुसार तो सभी प्राणि-वंश को कायम रखने की आवश्यकता है क्योंकि ये भी हमारे पर्यावरण को जीवित रखने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्राकृतिक पर्यावरण को मनुष्य के जीने लायक बनाए रखने हेतु तथा समाज में संतुलन एवं समानता कायम करने के लिए महा-रंभिक कार्यों पर रोक लगाना आवश्यक है। पश्चिम के जो देश औद्योगीकरण की चरम सीमा पर पहुंच गए हैं वे अब अनुभव करने लगे हैं कि औद्योगिक उत्पादन की गति को मन्द करने की आवश्यकता है तथा जन-समुदाय को अपनी उपभोग-वृत्ति पर नियन्त्रण करने का समय आ गया है, अन्यथा मानव-सृष्टि नष्ट हो जाएगी। महारंभ के स्थान पर विकेन्द्रित उत्पादन की तरफ पश्चिमी देश धीरे-धीरे उन्मुख हो रहे हैं। गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था में इसी विकेन्द्रीकरण की नीति को भारत के लिए श्रेयस्कर माना गया है।

भारतवर्ष बहुल जनसंख्या वाला देश है। इसकी अर्थव्यवस्था में जनशक्ति के उपयोग को प्रधानता मिलनी चाहिए। जो काम मनुष्य की शक्ति से परे हों, अथवा जिन कामों से कुछ वर्गों का शोषण होता हो, ऐसे कामों के लिए यन्त्रों का प्रयोग मान्य हो सकता है, परन्तु जन-शक्ति एवं पशु-शक्ति को बेकार बनाकर निरीह अवस्था में छोड़ देने वाले यन्त्रों का प्रयोग 'महाहिंसा' की कोटि में आता है, जिसका परिहार करना ही उचित है। बड़े उद्योगों की स्थापना की होड़ अब रुकनी चाहिए तथा उनकी भी जितनी क्रियाओं का विकेन्द्री-करण हो सके उतना करना चाहिए। समाज में व्याप्त विशृंखला तथा मानवीय शोषण को मिटाने का एक मार्ग विकेन्द्रीकरण है।

सत्य का स्वरूप तथा अनेकान्त मार्ग

सत्य-कथन दो रूपों में अभिव्यक्त होता है। कथन तथ्यात्मक होता है अथवा व्याख्यात्मक। जब हम किसी वस्तु, घटना, क्रिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि का कथन जैसी वह है अथवा जसा हमने उसका प्रत्यक्षीकरण (Perceive) किया है, उसी रूप में करते हैं, तब तथ्यात्मक कथन होता है। इसके विपरीत जब हम किसी वस्तु, घटना, विचार अथवा क्रिया आदि की व्याख्या करते हैं तथा अपना अभिमत उसमें समाविष्ट करते हैं तब कथन व्याख्यात्मक कहलाता है।

दोनों ही प्रकार के कथन सीमित रूप में ही सत्य का उद्‌घाटन कर सकते हैं। जिन्हें हम प्रत्यक्षीकृत तथ्य कहते हैं, उनकी सीमा हमारी इन्द्रियां हैं, जिनकी शक्ति को वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से बढ़ाया जा सकता है, परन्तु पूर्ण नहीं बनाया जा सकता है। हमारी इन्द्रियां वस्तु को एक परिप्रेक्ष्य में अनुभव करती हैं। समग्र रूप से पदार्थ को हस्तामलकवत् तो सर्वज्ञ ही देख सकता है। इस प्रकार हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान भी अपूर्ण तथा परिवर्तनशील होता है, तथा अलग-अलग लोगों का प्रत्यक्षीकरण भी भिन्न-भिन्न हो सकता है।

प्रत्यक्षीकृत ज्ञान में सामान्यतया एकरूपता पाई जाती है तथा मतभेद के लिए गुंजाइश कम रहती है, परन्तु जब हम तर्क का आश्रय लेकर व्याख्या करने लगते हैं, तो हमारा अभिमत उसमें समाविष्ट हो जाता है। व्याख्या करने वाला किसी संदर्भ अथवा परिप्रेक्ष्य में सम्मति-कथन करता है। भाषा की सीमा यह है कि कथन के अनन्त सन्दर्भों को मिलाकर एक साथ नहीं कहा जा सकता। जब हम यह कथन करते हैं कि "देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है" तो हमारे सामने केवल एक सन्दर्भ रहता है, परन्तु देवदत्त के जो अनेकानेक अन्य सन्दर्भ हो सकते हैं वे अनकहे रह जाते हैं।

हमारे जीवन में प्रायः मनोमालिन्य, पारस्परिक कलह तथा वर्ग-संघर्ष का मूल कारण अपने विचारों के प्रति अत्याग्रह होता है। हम अन्य व्यक्तियों की बात को उचित संदर्भ में समझे विना अपनी बात उस पर लादना चाहते हैं। हमारे इस विशाल देश में प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक विभिन्न विचारों, विश्वासों, संस्कृतियों तथा धर्मों को माननेवाले लोग एक साथ रहते आए हैं। भारतीय संस्कृति की इस उदार वृत्ति को सुदृढ़ करने की आवश्यकता है।

हमने लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली को अपनाया है, जिसमें विभिन्न मत रखने वाले समूह तथा व्यक्ति सहिष्णुतापूर्वक एक-दूसरे के अभिमत को समझने का प्रयास करते हैं तथा बहुजनहिताय बहुमत-विचार को स्वीकार किया जाता है। सिद्धान्ततः यह बात मान्य होते हुए भी हमारे देश में साम्प्रदायिक मतभेद बढ़े हैं; अपने मत को दूसरों पर आरोपित करके मनवाने का अहंकार बढ़ा है और इसके फलस्वरूप देश की एकता टूट रही है।

जैन दर्शन के अनुसार सत्य एकान्तिक न होकर अनेकान्तिक होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत रखने का अधिकार है, परन्तु साथ ही उसे अन्य मतों को उचित संदर्भ में समझने की चेष्टा करनी चाहिए तथा यदि उचित मालूम हो तो अपना मत परिवर्तन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। जीवन के उपर्युक्त व्यवहार की प्रासंगिकता आज के भारत के लिए और भी अधिक बढ़ गई है।

शोषण-मुक्ति तथा अपरिग्रह

दूसरों के वैध अधिकार का हनन चोरी कहलाता है। जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की विवशता का लाभ उठाकर, उनके परिश्रम का प्रतिफल स्वयं चुरा लेता है उसे स्तेन की संज्ञा दी गई है। जैन दर्शन के अनुसार यह चोरी केवल स्थूल ही नहीं अपितु सूक्ष्म भी हो सकती है, अतः मनसा-वाचा-कर्मणा अस्तेय व्रत तीसरा महाव्रत माना गया है।

राज्यांश अथवा कर की चोरी, परीक्षा में नकल, किसी अन्वेषक के अनुसंधान को अपने नाम से प्रकाशित करवाना, किसी कवि अथवा लेखक अथवा रचनाकार की रचना की चोरी करना भी चौर्य-कर्म हैं। स्तेय अथवा शोषण व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य ही नहीं होता अपितु वर्ग-वर्ग के बीच भी होता है। दलित वर्ग की समस्याएं इसी वर्ग-शोषण के अन्तर्गत आती हैं।

चोरी अथवा शोषण का उद्‌गम संचय-वृत्ति तथा स्वयं परिश्रम न करने की वृत्ति में होता है। जैन मुनि श्रमण कहलाता है क्योंकि वह समाज से अपने पोषण हेतु जितना ग्रहण करता है, उससे कई गुना अधिक श्रम करके समाज को लौटा देता है, और कभी किसी भी वस्तु का सञ्चय नहीं करता। अचौर्य एवं अपरिग्रह दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अस्तेय व्रत का परिपालन अपरिग्रह के बिना संभव नहीं है।

जैनागम के अनुसार गृहस्थ का आचरण सर्वथा मुनि जैसा तो नहीं हो सकता, परन्तु मुनि के आचार को आदर्श मानकर उसके अनुरूप आचरण करने का सतत प्रयास रहना चाहिए। श्रावक सर्वथा अपरिग्रही नहीं हो सकता परन्तु उसे परिग्रह की सीमा निर्धारित करनी चाहिए। यह सीमा भोजन-सामग्री, वस्त्र, निवास-स्थान, धन तथा सभी उपभोग्य सामग्री के निमित्त बांधी जानी चाहिए। परिग्रह की मर्यादा अलग-अलग लोगों के मनो-विकास के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो सकती है, परन्तु अमर्यादित परिग्रह रखना निषिद्ध है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार श्रम करना चाहिए, क्योंकि समाज से जो ग्रहण किया जाए उसे बिना श्रम किए उपभोग करना चौर्य-कर्म है।

जैनागम का उक्त व्यवहार-निर्देशक सिद्धान्त आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सबसे अधिक संगत ठहरता है। वर्ग-संघर्ष को मिटाने का यही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक मात्र अहिंसक उपाय महात्मा गांधी द्वारा उद्घाषित किया गया है। समाज से शोषण, दमन, भुखमरी मिटाने में जैनागम का उक्त विचार प्रबल भूमिका निर्वाह कर सकता है।

जनसंख्या-वृद्धि पर रोक

श्रावकाचार का चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्य माना गया है। जैनागम में अनुसार श्रावक के सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य का अर्थ है स्वपरिगृहीता (अथवा परिगृहीत) के साथ संयमित एवं मर्यादित संभोग, तथा अपरिगृहीता (अथवा अपरिगृहीत) के साथ शारीरिक संसर्ग का त्याग। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के अप्राकृतिक संभोग एवं मनुष्येतर प्राणियों के साथ मैथुन का निषेध किया गया है।

आज भारतवर्ष जनसंख्या-वृद्धि से ग्रस्त है। जितनी मात्रा में उपभोग सामग्री का उत्पादन नहीं होता उससे अधिक उपभोक्ता प्रतिदिन जन्म ले लेते हैं। जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के जो सरकारी उपाय अपनाए गए हैं, उनमें निरोधात्मक उपकरणों का प्रयोग, गर्भ-निपात, वन्ध्यत्व के ऑपरेशन, प्रजनन-निरोधक औषधियां तथा इंजेक्शन आदि आते हैं, परन्तु उक्त सभी उपाय अप्राकृतिक एवं हिंसक हैं। जैनागम द्वारा प्रदर्शित उपाय प्राकृतिक एवं अहिंसक हैं। प्रत्येक जैन श्रावक पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन रति-क्रिया का त्याग करता है तथा शेष दिनों के लिए मैथुन की मर्यादा निर्धारित करता है।

सामाजिक संसर्ग युवा स्त्री-पुरुषों को शारीरिक संसर्ग हेतु भी प्रलुब्ध कर सकता है, और यहीं सामाजिक दुराचार एवं व्यभिचार का आरंभ होता है। जैनागम विवाह-पूर्व तथा विवाहोपरान्त अपरिगृहीत सार्था के साथ शारीरिक संसर्ग का निषेध करता है। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए यह वर्जना आवश्यक है। उन्मुक्त रति-संबंधों वाले जो भी समाज विकसित हुए, उनमें अशान्ति, कुण्ठा, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, आत्मघात आदि दुर्वृत्तियों का जन्म हुआ तथा वे समाज शनैः-शनैः विघटित होते गए।

मुझे अब लगता है कि, यदि भारतीय समाज को विघटन से बचाना है और समाज में शान्ति, समृद्धि तथा भावात्मक एकता कायम करना है, तो जैनाचार ही सार्वजनिक आचार का आधार बन सकते हैं। आज की भ्रान्त एवं अशान्त मानवता की रक्षा का यही एक विकल्प है।

पुनर्मूल्यांकन

यहां हम एक ऐसे विद्वान का उल्लेख करना चाहेंगे जिन्होंने जैन धर्म का गहन अध्ययन करने के अनन्तर अपने विचार बदले हैं। वाशबर्न हॉपकिन्स ने आरम्भ में जैन धर्म की बड़ी कटु समीक्षा की है। उन्होंने लिखा कि भारत के महान धर्मों में से नातपुत्त के धर्म में सबसे कम आकर्षण है और इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि इसकी मुख्य बातें हैं—ईश्वर को नकारना, आदमी की पूजा करना और कीड़ों को पालना। बाद में जैन धर्म के बारे में अपनी अधूरी जानकारी के बारे में उन्होंने खेद व्यक्त किया। एक पत्र में उन्होंने श्री विजय सूरि को लिखा: "मैंने अब महसूस किया है कि जैनों का आचार-धर्म स्तुति योग्य है। मुझे अब खेद होता है कि पहले मैंने इस धर्म के दोष दिखाए थे और कहा था कि ईश्वर को नकारना, आदमी की पूजा करना तथा कीड़ों को पालना ही इस धर्म की प्रमुख बाते हैं। तब मैंने नहीं सोचा था कि लोगों के चरित्र एवं सदाचार पर इस धर्म का कितना बड़ा प्रभाव है। अक्सर यह होता है कि किसी धर्म की पुस्तकें पढ़ने से हमें उसके बारे में वस्तुनिष्ठ ही जानकारी मिलती है, परन्तु नजदीक से अध्ययन करने पर उसके उपयोगी पक्ष की भी हमें जानकारी मिलती है, और उसके बारे में अधिक अच्छी राय बनती है।

—प्रो० एस० गोपालन

जैन धर्म की रूपरेखा, पृ० सं० १०-११ से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org